नईदुनिया

संपादकीय

विरोध के नाम पर गालियां देना क्रांति नहीं, मानसिक दिवालियापन है

लोकतंत्र में विरोध करना अधिकार है, लेकिन विरोध के नाम पर गालियां देना कभी अधिकार नहीं हो सकता। आजकल कुछ लोगों ने आंदोलन और अभद्रता के बीच का फर्क ही मिटा दिया है। सरकार से सवाल कम पूछे जाते हैं, कैमरे के सामने खड़े होकर सस्ती लोकप्रियता के लिए गाली-गलौज ज्यादा की जाती है। और फिर उसी हरकत को लोकतंत्र बचाने का नाम दिया जाता है।

सबसे पहले उस फैशन पर बात होनी चाहिए, जिसमें हर दूसरे दिन भारत को 'तानाशाही' घोषित कर दिया जाता है। सवाल यह है कि अगर सचमुच तानाशाही होती, तो क्या राजधानी की सड़कों पर खड़े होकर प्रधानमंत्री के लिए अपमानजनक भाषा बोलना, उसका वीडियो बनाना और फिर उसे सोशल मीडिया पर लाखों लोगों तक पहुंचाना इतना आसान होता? जिस व्यवस्था में खुलेआम विरोध हो रहा है, वहीं खड़े होकर उसी व्यवस्था को तानाशाही कहना कम से कम बौद्धिक ईमानदारी तो नहीं है।

सरकार की नीतियों का विरोध कीजिए। बेरोज़गारी पर सवाल पूछिए। शिक्षा व्यवस्था पर बहस कीजिए। महंगाई पर सरकार को घेरिए। संसद से लेकर सड़क तक जवाब मांगिए। यही लोकतंत्र है। लेकिन जब आपके पास तर्क खत्म हो जाते हैं, तब मुंह से सिर्फ गालियां निकलती हैं। अपशब्द कभी तर्क का विकल्प नहीं हो सकते।

आज कुछ तथाकथित आंदोलनकारियों की पूरी राजनीति कैमरे के सामने दो मिनट का वायरल वीडियो बनाने तक सिमट गई है। जितनी गंदी भाषा, उतनी ज्यादा तालियां; जितनी भद्दी टिप्पणी, उतने ज्यादा व्यूज़। मानो देश के गंभीर मुद्दों का समाधान नहीं, बल्कि सोशल मीडिया पर ट्रेंड करना ही सबसे बड़ा लक्ष्य बन गया हो।

कुछ लोगों ने विरोध को विचारों का मंच नहीं, बल्कि अशिष्टता का प्रदर्शन बना दिया है। उन्हें लगता है कि जितनी उत्तेजक भाषा होगी, उतना बड़ा क्रांतिकारी कहलाएंगे। जबकि सच्चाई इसके ठीक उलट है। इतिहास गवाह है कि जिन आंदोलनों ने व्यवस्था बदली, उन्होंने अपने तर्कों, अनुशासन और स्पष्ट उद्देश्य के दम पर बदलाव लाया। केवल शोर, गाली और उकसावे से न कभी कोई आंदोलन सफल हुआ है और न ही समाज का भरोसा जीता जा सकता है।

और सबसे दुखद बात यह है कि कई बार असली मुद्दे पीछे छूट जाते हैं। छात्र हितों के नाम पर शुरू हुआ आंदोलन अचानक धर्म को निशाना बनाने लगता है, देवी-देवताओं का अपमान होने लगता है, सेना और पुलिस पर बिना जिम्मेदारी के कीचड़ उछाला जाने लगता है। यह आंदोलन नहीं, मुद्दों का अपहरण है। इससे न छात्रों का भला होता है, न लोकतंत्र का और न ही उस उद्देश्य का जिसके नाम पर लोग सड़कों पर उतरते हैं।

लोकतंत्र अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देता है, लेकिन यह स्वतंत्रता किसी को अश्लीलता, अभद्रता और व्यक्तिगत अपमान का लाइसेंस नहीं देती। विरोध की ताकत आपकी आवाज़ में नहीं, आपके तर्क में होती है। यदि आंदोलन गालियों के सहारे चल रहा है, तो समझ लीजिए कि उसके पास विचारों का दिवालियापन है।

देश बदलना है तो तथ्यों से लड़िए, बहस कीजिए और सरकार को कठघरे में खड़ा कीजिए। लेकिन यदि पूरी राजनीति सिर्फ अपशब्दों, सस्ती नौटंकी और वायरल क्लिप तक सीमित रह जाएगी, तो नुकसान किसी सरकार का नहीं, लोकतांत्रिक संस्कृति का होगा।

याद रखिए, गाली देना साहस नहीं होता। साहस तब होता है जब आप तथ्यों के साथ सत्ता से सवाल पूछते हैं। बाकी सब सिर्फ शोर है— और शोर कभी परिवर्तन नहीं लाता।

आजकल

जंक फूड पर हेल्थ टैक्स : बीमारी रोकने का हथियार या सिर्फ महंगाई का बहाना

भारत में बच्चों और किशोरों में मोटापा, मधुमेह और जीवनशैली से जुड़ी बीमारियां तेजी से बढ़ रही हैं। इसी चुनौती को देखते हुए भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद (आईसीएमआर) और राष्ट्रीय पोषण संस्थान (एनआईएन) ने जंक फूड तथा अत्यधिक चीनी, नमक और वसा वाले खाद्य पदार्थों पर हेल्थ टैक्स लगाने का सुझाव दिया है। तर्क यह है कि जैसे तंबाकू और शराब पर अतिरिक्त कर लगाकर उनकी खपत कम करने की कोशिश की गई, वैसे ही अस्वास्थ्यकर खाद्य पदार्थों के सेवन पर भी अंकुश लगाया जा सकता है। जंक फूड में पोषक तत्व बेहद कम, जबकि कैलोरी, चीनी, नमक और ट्रांस फैट अत्यधिक मात्रा में होते हैं। इनके लगातार सेवन से मोटापा, टाइप-2 मधुमेह, हृदय रोग और बच्चों में कमजोर प्रतिरक्षा जैसी समस्याएं बढ़ती हैं। आईसीएमआर के विशेषज्ञों का मानना है कि समय रहते प्रभावी कदम नहीं उठाए गए तो आने वाले वर्षों में यह सार्वजनिक स्वास्थ्य का गंभीर संकट बन सकता है।

हेल्थ टैक्स का उद्देश्य केवल राजस्व बढ़ाना नहीं, बल्कि लोगों की खान-पान की आदतों में बदलाव लाना है। कीमत बढ़ने से जंक फूड की मांग घट सकती है और कंपनियों पर कम चीनी, नमक व वसा वाले उत्पाद विकसित करने का दबाव बनेगा। इससे स्वस्थ विकल्पों को बढ़ावा मिल सकता है।

हालांकि, केवल टैक्स लगा देने से समस्या का समाधान नहीं होगा। यदि पौष्टिक भोजन सस्ता और सुलभ नहीं होगा, स्कूल-कॉलेजों में स्वस्थ भोजन उपलब्ध नहीं कराया जाएगा और भ्रामक विज्ञापनों पर नियंत्रण नहीं होगा, तो टैक्स केवल महंगाई बढ़ाने का माध्यम बनकर रह जाएगा।

इसलिए हेल्थ टैक्स तभी प्रभावी होगा, जब इसके साथ जनजागरूकता, स्पष्ट फूड लेबलिंग, बच्चों को लक्षित विज्ञापनों पर नियंत्रण और सस्ते, पौष्टिक विकल्पों को बढ़ावा देने जैसी नीतियां भी समानांतर रूप से लागू की जाएं। तभी यह कदम बीमारी रोकने का प्रभावी हथियार साबित होगा।

ई-चालान काटो और भूल जाओ...

लापरवाही खत्म, अब 60 दिन में नहीं भरा तो गाड़ी और लाइसेंस पर पड़ेगी सीधी चोट

सड़कों पर नियम तोड़ना अब पहले जैसा आसान नहीं रहेगा, क्योंकि सरकार ने ट्रैफिक नियमों को लेकर सख्ती का ऐलान कर दिया है। सालों से चली आ रही 'ई-चालान काटो और भूल जाओ' की व्यवस्था पर अब विराम लगने वाला है। परिवहन विभाग ने नई नीति बनाने की तैयारी शुरू कर दी है, जिसके तहत ई-चालान जारी होने के 60 दिन के अंदर जुर्माना जमा करना अनिवार्य होगा। अगर तय समय में भुगतान नहीं हुआ तो वाहन मालिक और चालक, दोनों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जाएगी। यह कार्रवाई सिर्फ नोटिस तक सीमित नहीं रहेगी, बल्कि गाड़ी के दस्तावेजों पर रोक, परमिट और फिटनेस रद्द करने से लेकर गंभीर मामलों में ड्राइविंग लाइसेंस तक निलंबित किया जा सकता है।

पिछले कुछ सालों में ई-चालान की संख्या तेजी से बढ़ी है, लेकिन उसका असर सड़कों पर दिखाई नहीं दिया। 2023 में प्रदेश में करीब 90 हजार ई-चालान जारी हुए थे। 2024 में यह आंकड़ा बढ़कर 13 लाख के पार पहुंच गया और 2025 में 18 लाख से ज्यादा ई-चालान काटे जा चुके हैं। इतनी बड़ी संख्या के बावजूद बार-बार नियम तोड़ने वाले वाहन बेखौफ घूम रहे हैं। एक ही गाड़ी दिन में कई बार सिग्नल तोड़ती है। कई बार बिना हेलमेट और सीट बेल्ट के लोग निकल जाते हैं। कई बार ओवरलोडिंग और खतरनाक ड्राइविंग की शिकायतें आती हैं, लेकिन विभाग की तरफ से सिर्फ चालान काटकर मामला खत्म कर दिया जाता था। चालान की राशि की वसूली को लेकर कोई ठोस निगरानी नहीं थी और न ही बार-बार उल्लंघन करने वालों की पहचान कर कोई विशेष कार्रवाई होती थी। नतीजा यह हुआ कि लोगों के मन में यह धारणा बन गई कि चालान कट गया तो कट गया, भरना है तो भर देंगे, नहीं भरना है तो कोई बात नहीं।

इस लापरवाही का सबसे बड़ा कारण फॉलोअप सिस्टम का न होना था। ई-चालान बनते ही सिस्टम में दर्ज हो जाता था, लेकिन उसके बाद 60 दिन, 90 दिन या एक साल तक कोई पूछने वाला नहीं था। वाहन बेच देने के बाद भी चालान पुराने मालिक के नाम पर पड़े रहते थे और नए मालिक को पता तक नहीं चलता था। आरटीओ में गाड़ी का नामांतरण हो जाता था, लेकिन बकाया चालान का कोई हिसाब नहीं रखा जाता था। इसी वजह से विशेषज्ञ लगातार कह रहे थे कि चालान काटना तब तक प्रभावी नहीं है, जब तक उसके बाद की कार्रवाई सुनिश्चित न हो। परिवहन विभाग ने इस खामी को दूर करने का फैसला लिया है। नई प्रस्तावित नीति का मकसद सिर्फ जुर्माना वसूलना नहीं है, बल्कि उन लोगों की पहचान करना है जो आदतन नियम तोड़ते हैं और उनके खिलाफ नजीर बनने वाली कार्रवाई करना है। विभाग के शीर्ष अधिकारियों का कहना है कि नई व्यवस्था में 60 दिन की समय-सीमा तय होगी। ई-चालान जारी होते ही वाहन मालिक के मोबाइल पर एसएमएस जाएगा और ऑनलाइन पोर्टल पर भी जानकारी अपडेट होगी। 60 दिन पूरे होने से पहले रिमाइंडर भी भेजे जाएंगे, ताकि लोग समय पर भुगतान कर सकें।

अगर 60 दिन बीतने के बाद भी चालान बकाया रहा तो फिर कार्रवाई का दूसरा चरण शुरू होगा। पहले चरण में नोटिस जारी किया जाएगा। अगर उसके बाद भी भुगतान नहीं हुआ तो वाहन के दस्तावेजों पर रोक लगा दी जाएगी। इसका मतलब यह है कि जब तक बकाया चालान नहीं भरेंगे, तब तक गाड़ी का बीमा नहीं होगा, फिटनेस नहीं होगी और न ही नामांतरण हो पाएगा। वाणिज्यिक वाहनों के मामले में परमिट भी रोका जा सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि बार-बार नियम तोड़ने और गंभीर उल्लंघन करने वालों के ड्राइविंग लाइसेंस को निलंबित करने का प्रावधान भी रखा जा रहा है।

विशेषज्ञों का मानना है कि यह कदम देर से ही सही, लेकिन बहुत जरूरी था। जब तक चालान और भुगतान के बीच कोई कड़ी नहीं होगी, तब तक लोग नियमों को गंभीरता से नहीं लेंगे। 60 दिन की समय-सीमा एक संतुलित अवधि है। न बहुत कम है और न बहुत ज्यादा। इस दौरान व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार भुगतान कर सकता है और विभाग को भी वसूली का मौका मिलता है। साथ ही यह भी जरूरी है कि बार-बार उल्लंघन करने वालों को जोखिम श्रेणी में डाला जाए, ताकि उनकी हरकतों पर विशेष नजर रखी जा सके।

तकनीक के स्तर पर भी सुधार की जरूरत है। अभी ई-चालान की जानकारी आरटीओ के पोर्टल, पुलिस के सर्वर और बीमा कंपनियों के बीच पूरी तरह साझा नहीं होती। नई नीति में यह प्रावधान किया जाएगा कि वाहन चालक और चालान का डेटा एकीकृत हो, ताकि एक क्लिक में पता चल सके कि किस गाड़ी पर कितने बकाया चालान हैं, किस चालक ने कितनी बार नियम तोड़े हैं और उसके खिलाफ क्या कार्रवाई हुई है। जब यह डेटा आपस में जुड़ेगा तो पारदर्शिता बढ़ेगी और भ्रष्टाचार की संभावना भी कम होगी।

सड़कों पर होने वाली दुर्घटनाओं का एक बड़ा कारण ट्रैफिक नियमों की अनदेखी है। लोग बिना हेलमेट के निकलते हैं, तेज रफ्तार से गाड़ी चलाते हैं, शराब पीकर ड्राइव करते हैं और सिग्नल तोड़ते हैं। जब तक डर नहीं होगा, तब तक सुधार नहीं आएगा। ई-चालान की सख्त वसूली और 60 दिन की समय-सीमा से लोगों के मन में यह डर पैदा होगा कि नियम तोड़ने का मतलब सिर्फ कागज का एक टुकड़ा नहीं है, बल्कि सीधे जेब और लाइसेंस पर असर पड़ेगा।

आम नागरिकों के लिए भी यह व्यवस्था राहत लेकर आएगी। जो लोग समय पर चालान भर देते हैं, उन्हें बार-बार नोटिस नहीं आएंगे और जिनकी गाड़ी बिना जानकारी के चालान में फंस जाती है, उन्हें भी ऑनलाइन भुगतान की सुविधा मिलेगी। साथ ही बार-बार नियम तोड़ने वालों पर लगाम लगने से सड़कें सुरक्षित होंगी और आम लोगों को चलने में सहूलियत होगी।

लेकिन इस नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इसे जमीनी स्तर पर कितनी ईमानदारी से लागू किया जाता है। अगर सिर्फ घोषणा हो गई और फॉलोअप नहीं हुआ तो फिर वही ढाक के तीन पात वाली स्थिति बन जाएगी। इसलिए विभाग को एक निगरानी तंत्र बनाना होगा, जो हर महीने रिपोर्ट दे कि कितने चालान जारी हुए, कितने भरे गए और कितनों पर कार्रवाई हुई। साथ ही जनता को भी जागरूक करना होगा कि चालान भरना कोई दंड नहीं है, बल्कि अपने और दूसरों के जीवन की सुरक्षा का हिस्सा है।

ट्रैफिक नियम कानून की किताब के लिए नहीं बने हैं, वे हमारी सुरक्षा के लिए बने हैं। जब तक हम उन्हें मजाक में लेंगे, तब तक सड़कों पर हादसे होते रहेंगे। नई नीति से यह उम्मीद है कि 'ई-चालान काटो और भूल जाओ' का दौर खत्म होगा और उसकी जगह 'ई-चालान काटो और समय पर भरो' की संस्कृति आएगी, क्योंकि सड़क पर चलने वाला हर व्यक्ति किसी का अपना है और उसकी जान की कीमत किसी चालान से कहीं ज्यादा है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

60113 करोड़ का हिसाब गायब, विभागों ने नहीं दिए उपयोगिता प्रमाण-पत्र

सरकार के खजाने से खर्च हुई 60,113 करोड़ रुपये की राशि का हिसाब अभी तक नहीं मिल पाया है। नियंत्रक एवं महालेखापरीक्षक (कैग) की ताजा रिपोर्ट ने राज्य सरकार के वित्तीय अनुशासन की पोल खोलकर रख दी है। रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2024-25 में राज्य सरकार ने 81,113 करोड़ रुपये विभिन्न योजनाओं और परियोजनाओं के लिए आवंटित किए थे, लेकिन इसमें से केवल 42,305 करोड़ रुपये के ही उपयोगिता प्रमाण-पत्र विभागों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। यानी कुल आवंटित राशि का 76 प्रतिशत खर्च तो दिखाया गया है, लेकिन उसके दस्तावेज और प्रमाण सरकार के पास नहीं हैं।

कैग ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट कहा है कि उपयोगिता प्रमाण-पत्र न देना वित्तीय नियमों का सीधा उल्लंघन है। जब सरकार किसी विभाग को पैसा देती है तो वह विभाग उस पैसे को किस काम में खर्च किया, यह बताने के लिए उपयोगिता प्रमाण-पत्र देता है। इसी प्रमाण-पत्र के आधार पर तय होता है कि पैसा सही जगह लगा या नहीं।

कैग ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट कहा है कि उपयोगिता प्रमाण-पत्र न देना वित्तीय नियमों का सीधा उल्लंघन है। जब सरकार किसी विभाग को पैसा देती है तो वह विभाग उस पैसे को किस काम में खर्च किया, यह बताने के लिए उपयोगिता प्रमाण-पत्र देता है। इसी प्रमाण-पत्र के आधार पर तय होता है कि पैसा सही जगह लगा या नहीं। अगर प्रमाण-पत्र ही नहीं मिलेगा तो यह कैसे पता चलेगा कि 60,113 करोड़ रुपये सच में जनता के कल्याण पर खर्च हुए या किसी और मद में चले गए।

यह पहली बार नहीं है। कैग ने बताया कि वर्ष 2019 से अब तक लगभग 720 करोड़ रुपये और अंशदान-मुक्त निधि से संबंधित खर्चों के भी प्रमाण-पत्र लंबित हैं। पंचायत एवं ग्रामीण विकास विभाग, सामाजिक न्याय एवं निशक्तजन कल्याण विभाग, ग्रामीण विकास और नगरीय विकास जैसे बड़े विभाग इस सूची में सबसे ऊपर हैं। अकेले पंचायत एवं ग्रामीण विकास विभाग पर 20,453 करोड़ रुपये का उपयोगिता प्रमाण-पत्र बाकी है। सामाजिक न्याय विभाग पर 20,045 करोड़ रुपये और ग्रामीण विकास विभाग पर 8,051 करोड़ रुपये का हिसाब नहीं दिया गया है।

जब हर साल हजारों करोड़ रुपये खर्च हो रहे हैं तो विभाग प्रमाण-पत्र देने में इतनी देरी क्यों कर रहे हैं? कैग की रिपोर्ट के अनुसार इसका सीधा कारण जवाबदेही का अभाव है। विभागों में न तो समय पर ऑडिट होता है और न ही खर्च के दस्तावेज दुरुस्त रखे जाते हैं। कई बार योजना का पैसा निकाल तो लिया जाता है, लेकिन वह जमीन पर दिखता ही नहीं है। कुछ मामलों में पैसा निकालकर अन्य कामों में डायवर्ट कर दिया जाता है और बाद में उसका हिसाब नहीं मिलता।

इसका असर सीधे जनता पर पड़ता है। मध्यप्रदेश में हर साल शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, पेयजल और रोजगार की योजनाओं के लिए अरबों रुपये का बजट पास होता है, लेकिन जब पैसा खर्च होने के बाद उसका प्रमाण ही नहीं होगा तो यह कैसे तय होगा कि स्कूल बना या नहीं, अस्पताल में दवाएं पहुंचीं या नहीं और गरीबों को आवास मिला या नहीं। कैग ने कहा है कि प्रमाण-पत्र न मिलने से सरकार को यह आकलन करने में दिक्कत होती है कि अगली बार किस योजना के लिए कितना पैसा चाहिए और किस विभाग का प्रदर्शन कैसा रहा।

वित्तीय विशेषज्ञों का मानना है कि 60,113 करोड़ रुपये की राशि छोटी नहीं है। यह मध्यप्रदेश के एक साल के स्वास्थ्य और शिक्षा बजट से भी ज्यादा है। अगर इतना बड़ा पैसा बिना हिसाब के हवा में लटका रहेगा तो राज्य का कर्ज बढ़ेगा और विकास की रफ्तार रुकेगी। पहले से ही राज्य पर कर्ज का बोझ बढ़ रहा है। ऐसे में यह लापरवाही और महंगी पड़ सकती है। कैग ने सरकार को सिफारिश की है कि सभी विभागों को तीन महीने के अंदर लंबित उपयोगिता प्रमाण-पत्र जमा करने के निर्देश दिए जाएं। इसके लिए एक निगरानी तंत्र बनाया जाए, जो हर तिमाही में समीक्षा करे और देरी करने वाले अधिकारियों पर कार्रवाई हो। साथ ही ऑनलाइन ट्रैकिंग सिस्टम लागू किया जाए, ताकि जैसे ही पैसा जारी हो, उसका उपयोग और प्रमाण-पत्र की स्थिति तुरंत देखी जा सके।

सरकार की ओर से अभी इस पर कोई ठोस जवाब नहीं आया है, लेकिन सूत्रों के अनुसार वित्त विभाग ने सभी प्रमुख सचिवों को पत्र लिखकर लंबित प्रमाण-पत्र जल्द जमा करने को कहा है। मुख्यमंत्री ने भी समीक्षा बैठक में नाराजगी जताई है और कहा है कि पैसा खर्च करना ही काफी नहीं है, उसका हिसाब देना भी जरूरी है। यह मामला केवल कागजों का नहीं है, यह जनता के भरोसे का मामला है। जब लोग टैक्स देते हैं तो उम्मीद करते हैं कि वह पैसा उनके बच्चों की पढ़ाई, उनके इलाज और उनके गांव की सड़क पर लगेगा। अगर वही पैसा बिना हिसाब के रह जाएगा तो भरोसा टूटेगा और लोकतंत्र कमजोर होगा।

मध्यप्रदेश में पिछले कुछ सालों में डिजिटल गवर्नेंस और पारदर्शिता की बात बहुत हुई है। ई-टेंडरिंग, डीबीटी और पोर्टल के जरिए काम करने का दावा किया गया है, लेकिन कैग की यह रिपोर्ट बताती है कि जमीनी स्तर पर अभी भी बहुत काम बाकी है। तकनीक तभी काम करेगी, जब उसे चलाने वाले अधिकारी जिम्मेदार बनें।

इस रिपोर्ट के बाद विपक्ष ने भी सरकार को घेरना शुरू कर दिया है। उनका कहना है कि 60,113 करोड़ रुपये का हिसाब न देना भ्रष्टाचार को न्योता देना है। सत्ता पक्ष का तर्क है कि कई योजनाएं बहुवर्षीय हैं और उनका काम अभी पूरा नहीं हुआ है, इसलिए प्रमाण-पत्र में देरी हो रही है। लेकिन कैग ने साफ कहा है कि देरी का कारण चाहे जो भी हो, नियम के अनुसार हर वित्तीय वर्ष के अंत में प्रमाण-पत्र देना अनिवार्य है।

आगे की राह कठिन है, लेकिन असंभव नहीं है। सरकार को अब तीन स्तरों पर काम करना होगा। पहला, सभी विभागों में आंतरिक ऑडिट को मजबूत करना। दूसरा, अधिकारियों और कर्मचारियों को वित्तीय नियमों का प्रशिक्षण देना। तीसरा, सख्त जवाबदेही तय करना। जो विभाग समय पर प्रमाण-पत्र न दे, उसके बजट में कटौती की जाए और जिम्मेदार अधिकारी पर अनुशासनात्मक कार्रवाई हो।

मध्यप्रदेश एक बड़ा राज्य है और यहां विकास की संभावनाएं भी बहुत हैं, लेकिन विकास के लिए पैसा ही काफी नहीं होता। उस पैसे का सही उपयोग और उसका सही हिसाब भी जरूरी होता है। कैग की रिपोर्ट एक चेतावनी है, एक आईना है। अगर अभी नहीं चेते तो आने वाले समय में यह 60,113 करोड़ रुपये का आंकड़ा और बड़ा हो सकता है।

सरकार को चाहिए कि वह इस रिपोर्ट को गंभीरता से ले और इसे सिर्फ एक औपचारिकता न समझे। जनता को जानने का अधिकार है कि उसका पैसा कहां गया और कैसे खर्च हुआ। पारदर्शिता से ही सुशासन आता है और सुशासन से ही जनता का विश्वास बढ़ता है। इसलिए अब देर नहीं होनी चाहिए। 60,113 करोड़ रुपये का हिसाब तुरंत जनता के सामने आना चाहिए। तभी यह कहा जा सकेगा कि मध्यप्रदेश सही मायने में विकास के रास्ते पर चल रहा है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

8842 गांवों को आंगनबाड़ी का इंतजार, बच्चों का भविष्य भगवान भरोसे

मध्यप्रदेश के एक गांव में सुबह नौ बजे की धूप में कुछ बच्चे पेड़ के नीचे बैठे हैं। पास में कोई इमारत नहीं है, कोई बेंच नहीं है और न ही कोई कार्यकर्ता। यह दृश्य किसी एक गांव का नहीं है। यह उन 8842 गांवों की कहानी है, जहां आज भी आंगनबाड़ी केंद्र नहीं पहुंच पाया है।

आंगनबाड़ी को हम बच्चों की पहली पाठशाला कहते हैं। इसे कुपोषण और असमानता के खिलाफ सबसे बड़ा हथियार भी माना जाता है। लेकिन जब योजनाओं की फाइलों से बाहर निकलकर जमीन पर जाते हैं तो तस्वीर बदल जाती है। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि प्रदेश में 54,903 गांव हैं। इनमें से 16 प्रतिशत गांव ऐसे हैं, जहां आंगनबाड़ी का एक भी केंद्र नहीं है। यानी हर छह गांव में से एक गांव आज भी इस सुविधा से वंचित है।

और जिन गांवों में केंद्र हैं, वहां की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। नियंत्रक एवं महालेखापरीक्षक की हालिया रिपोर्ट में बताया गया है कि मौजूदा केंद्रों में से 16 प्रतिशत में बिजली नहीं है, पीने के पानी की व्यवस्था नहीं है, शौचालय नहीं है और बैठने की पर्याप्त जगह भी नहीं है। कई इमारतें जर्जर हैं, छत टपकती है, गर्मी में पंखा नहीं चलता और सर्दी में अलाव तक नहीं होता। यही वह जगह है, जहां से एक बच्चे की सीख और सेहत की नींव रखी जानी थी।

आंगनबाड़ी योजना दशकों से चल रही है। हर साल बजट आता है, हर जिले में अधिकारी हैं, फिर भी 8842 गांव छूट कैसे गए? इसका एक कारण मानकों और हकीकत के बीच का फासला है। नियम कहता है कि 800 की आबादी पर एक केंद्र होना चाहिए, लेकिन कई बार प्रस्ताव ही नहीं बनते। कई बार बनते हैं तो स्वीकृति नहीं मिलती और कई बार जमीन के चक्कर में फाइल अटक जाती है। नतीजा यह कि कुछ गांवों में दो-दो केंद्र चल रहे हैं और कुछ गांव पूरी तरह अनदेखे रह गए हैं।

बड़ी समस्या संसाधनों की है। एक कार्यकर्ता के कंधों पर 40 से 50 बच्चों की जिम्मेदारी है। साथ में रजिस्टर भरना, सर्वे करना, टीकाकरण में मदद करना और बैठकों में जाना भी है। इतने काम में न तो पढ़ाई हो पाती है और न ही बच्चों की देखभाल। मानदेय भी समय पर नहीं मिलता। इसलिए नए लोग इस काम में आने से कतराते हैं और पुराने लोग थक जाते हैं।

पोषण आहार भी कई केंद्रों तक समय पर नहीं पहुंचता। मेन्यू में लिखी दाल, सब्जी, फल और दूध बच्चों तक नहीं पहुंच पाते। भंडारण की जगह नहीं होने से सामान खराब हो जाता है। रजिस्टर में कभी संख्या ज्यादा दिखा दी जाती है, कभी कम, ताकि कागजों पर सब ठीक लगे, लेकिन बच्चों की थाली में कुछ नहीं बचता।

इसका असर सीधे बच्चों पर पड़ता है। जिन गांवों में केंद्र नहीं हैं, वहां बच्चे पोषण से वंचित रह जाते हैं। उनकी शुरुआती सीख रुक जाती है और जब वे स्कूल जाते हैं तो पहले से ही पीछे होते हैं। जिन केंद्रों में सुविधाएं नहीं हैं, वहां माताएं बच्चों को भेजने से डरती हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि वहां सुरक्षा नहीं है। इस तरह एक पूरी पीढ़ी के पहले छह साल कमजोर हो जाते हैं और बाद में उन्हें संभालना बहुत मुश्किल हो जाता है।

सबसे पहले उन 8842 गांवों को प्राथमिकता देनी होगी, जहां एक भी केंद्र नहीं है। इसके लिए पंचायतों और स्थानीय लोगों को साथ लेना होगा। स्कूल, पंचायत भवन या सामुदायिक केंद्र में अस्थायी व्यवस्था कर तुरंत शुरुआत की जा सकती है। किराये की व्यवस्था भी एक विकल्प है, लेकिन अब और इंतजार करना ठीक नहीं है।

सभी मौजूदा केंद्रों में छह महीने के भीतर बिजली, पानी और शौचालय की सुविधा सुनिश्चित करनी होगी। यह काम अकेले महिला एवं बाल विकास विभाग का नहीं है। इसमें पंचायत, ग्रामीण विकास और ऊर्जा विभाग को भी साथ आना होगा।

पोषण आहार की आपूर्ति को पारदर्शी बनाना होगा। हर केंद्र में डिजिटल हाजिरी और स्टॉक की निगरानी हो, ताकि पता चल सके कि सामान कब आया, कब बना और बच्चों को मिला या नहीं।

खाली पदों को तुरंत भरा जाए और मानदेय समय पर दिया जाए, ताकि काम करने वालों का भरोसा बना रहे। साथ ही हर महीने जिलों की रैंकिंग सार्वजनिक की जाए कि कितने नए केंद्र खुले और कितने केंद्रों में बुनियादी सुविधाएं पूरी हुईं, ताकि जवाबदेही तय हो सके।

यह लड़ाई केवल सरकार की नहीं है, यह समाज की भी है। जब तक गांव का सरपंच, शिक्षक और अभिभावक यह नहीं पूछेंगे कि हमारे गांव में आंगनबाड़ी क्यों नहीं है, तब तक फाइलें चलती रहेंगी और बच्चे इंतजार करते रहेंगे। आंगनबाड़ी केवल एक इमारत नहीं है। यह उस मां जैसी जगह है, जहां बच्चा पहली बार अक्षर सीखता है, पहली बार समूह में बैठता है और पहली बार पोषण पाता है। अगर यही जगह अधूरी होगी तो आगे की पूरी सीढ़ी कमजोर हो जाएगी।

हमें आंकड़ों से बाहर निकलकर बच्चों के चेहरे देखने होंगे। हर गांव में एक मजबूत केंद्र, हर केंद्र में बुनियादी सुविधाएं और हर बच्चे तक पोषण तथा शिक्षा पहुंचाना ही असली विकास है।

बच्चों के पहले छह साल लौटकर नहीं आते। अगर आज हमने उन 8842 गांवों को नजरअंदाज किया तो कल वही बच्चे हमसे पूछेंगे कि जब आपके पास मौका था तो आपने हमारी पहली पाठशाला क्यों नहीं बनाई। उस सवाल का जवाब हमारे पास नहीं होना चाहिए।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)